मध्य गंगा घाटी में मृण्मूर्ति निर्माण तकनीक

Sanjay Kumar Vishwakarma

Department of Ancient Indian History, Culture & Archeology, Banaras Hindu University, Varanasi-5

Abstract

Terracotta figurines are a mode of artistic and religious expression frequently found in the archaeological sites of Middle Gangetic Valley particularly in early historical period onward. Cheap and easily produced, these figurines abound and provide and invaluable testimony to the everyday life and

religion of the Ancient Indians. Gopal Bhatt has tried to define such clay objects as Lapajya or Mrinmayi.

Modeling is the most common and simplest technique. The prototypes are made out of raw clay. The small sizes are directly worked with the hand. For the large models, the craftsmen (manufactures of figurines) presses the clay pellets or wads against a wooden restraint.

The mould is obtained by application of bed of clay or plaster on the prototype. Simple moulds, used by the India of the continent until the Gupta period, are dried. Bhvalvular moulds, require cutting to obtain an obverse and a reverse, with which are sometimes as associated-protuberances allowing the two parts to fit better. When the piece becomes complicated, with important projections (arm, legs, head, clothing) the craftsman can cut out the mould in smaller parts. The piece is then dried.

The second phase consists in applying a layer of raw clay inside the mould, which can be beforehand incised in order to obtain effects of relief. The thinness of the layer varies according to the type of objects to be realized. The faces of the mould are joined together, the objects is then unmouled and the craftsman can proceed to the final improvements, typically smoothing the junction. The craftsman also creates a small opening, a vent hole that allows steam to escape during the firing. The vent can also be used for assembly, allowing intervention inside the piece. The limbs are then joined to the body either by pasting them with harbotine (clay mixed with water), or by mortice and tenon joint.

The piece is then fired in the kiln, temperature ranging from 600 to 8000 C. 'The kiln used is the same as the potters'. Once the figuring is fired, slip can be applied. The slip is sometimes itself fired at low temperature. In the beginning, the range of colours available is rather reduced: red, yellow black and blue. The pigments are natural mineral dyes: ochre for yellow red, coat for black, malachite for green, etc.

कला और उद्योगों के लिए शिल्प शब्द था। सौन्दर्यमय शिल्प के रचयिता को सुरुकृत्नु कहा गया है। उत्तम सुगठित शरीर के लिए सुशिल्प विशेषण आया है। सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी की संज्ञा श्री थी। उसी की सहचारिणी लक्ष्मी थी। दोनों मिलकर कालान्तर में देवी श्री लक्ष्मी के रूप में विकसित हुई। देवी श्री लक्ष्मी को भारतीय कला के मूर्त सौन्दर्य की अधिष्ठात्री देवी कहा जा सकता है। उसकी पूजा और मान्यता वैदिक युग से लेकर आज तक चली आई है। पद्महस्ता पद्मिनी या जगलक्ष्मी वही हैं जिसकां पूजा लोक में दीपावली के अवसर पर कीया जाती है। श्री का विपरीत भाव अश्री या, सुन्दर मुख को सुप्रतीक और कुरूप चेहरे को अश्रील कहते थे, अर्थात् जो श्री हीन हों। ज्ञात होता है कि स्त्री और पुरुष अपने शारीरिक में पर्याप्त रूचि लेते थे। वैदिक भाषा में प्रयुक्त अनेक शब्द इस बात के साक्षी हैं- हिरण्यम द्रापि (सुनहले या जरी के काम के वस्त्र), ओपश (सिर के ऊपर उठा हुआ एक अलंकार) पेशस् (बुनावट में कामदानी के वस्त्र), ऊर्णा (ऊनी वस्त्र), यवस्त (भेड़-बकरी के कमाएँ हुए चमड़े के पोस्तीन आदि वस्त्र)।

मृण्मूर्ति निर्माण के लिए अनेक प्रकार की वस्तुओं

Vijnana Bharati

का प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है।[१] रामायण में ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि अश्वमेध यज्ञ के समय सीता के उपस्थित न रहने के कारण राम ने उनकी सोने की प्रतिमा बनवाकर समीप स्थापित करवायी।[२] इसी प्रकार जब कृष्ण उद्धव को क्रियायोग एवं कर्मकाण्ड का उपदेश देते है, तब वे अपनी प्रतिमाओं के निर्माण के विषय में भी बताते हैं कि मूर्तियाँ, मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, धातु, चन्दन, बालुका मनोमयी एवं मणि द्वारा निर्मित होती है।[३] बृहतसंहिता के अनुसार सुर्वण की प्रतिमा से स्वास्थ्य, रजत से यश, ताम्र से प्रजा वृद्धि, शिलामयी से भू-धन लाभ तथा विजय, दारुमयी से आयु, मिट्टी से श्री बल, मणि से लोकहित की वृद्धि होती है।[४] गोपाल भट्ट के अनुसार मिट्टी की बनी हुई मूर्तियों को क्रमशः लेप्यजा एवं मृण्मयी कहते हैं।[५] समरांगण सूत्राधार में लेप्यजा प्रतिमाओं के लेप्य बनाने का उल्लेख मिलता हैं, जिसे मिट्टी का लेप, बालू, भूसा, घोड़े गाय के बाल, नारियल की जटा तथा पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े मिलाकर तैयार किया जाता है।[६] चित्र लक्षण में भी इसी प्रकार के लेप का वर्णन हुआ है। श्रीमदभागवत् की लेप्यजा प्रतिमा सम्भवतः इसी ओर संकेत करती है। विभिन्न उत्खनित स्थलों से प्राप्त विभिन्न काल एवं वर्ग की मृण्मूर्तियों का विश्लेषण करने से यह स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि इस कला में जितनी सहजता है उतना ही अधिक तकनीकी दक्षता की आवश्यकता इसके निर्माण में पड़ती है। यह तकनीकी जानकारी मृण्मूर्ति निर्माण के लिए आवश्यक मिट्टी के प्रकार एवं गुण से लेकर आँवें में पकाने तक से सम्बन्धित है। एक कुम्भकार के द्वारा मृण्मूर्तियों के निर्माण हेतु निम्न तीन प्रकार की तकनीक अपनायी जाती थी।

१. हाथ से डौलिया कर बनाना, मृण्मूर्ति के कुछ भाग को चाक निर्मित कर शेष भाग हाथ से डौलिया कर बनाना, सम्पूर्ण रूप में साँचा निर्मित; उपरोक्त तीनों तकनीक से मृण्मूर्ति निर्माण हेतु आवश्यक प्रक्रिया को निम्न छः चरणों में विभक्त कर सकते हैं-

(i) उपयुक्त मिट्टी का चयन करके मूर्ति निर्माण हेतु तैयार करना।

(ii) मृण्मूर्ति की आधारभूत संरचना/साँचा का निर्माण करना।

(iii) शरीरिक अंगों से सम्बन्धित सूक्ष्म व्याख्या सम्बन्धित कार्य।

(iv) निर्मित मूर्ति को सुखाना।

(v) आंवा में पकाने के पूर्व मूण्मूर्ति पर लेप या स्लिप चढ़ाना।

(vi) आँवा में मृण्मृर्ति को पकाना।

प्राचीन भारतीय समाज में सुनहले भूत व वर्तमान में मृण्मूर्ति का एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। शिल्प रत्न में दो प्रकार की मृण्मूर्तियों के निर्माण की बात की गयी है- आममार्तिक, पक्व[७]। मूर्तियों में मिट्टी की बनी हुई अपक्व मूर्तियाँ होती हैं। स्पष्ट है कि मूर्ति निर्माण हेतु मिट्टी प्राप्त करने के स्थान के सम्बन्ध में पुराण स्पष्ट निर्देश देते हैं। इस सम्बन्ध में पुराण बताता है कि मृण्मूर्तियों के लिए आवश्यक मिट्टी नदी के किनारे तालाब, कुआँ या ऐसे स्थानों से लीया जानी चाहिए जहाँ जल की उपस्थिति से भूमी नमीयुक्त हो, शिवमहापुराण के अनुसार उपजाऊ भूमि से भी मृण्मूर्तियों के लिए आवश्यक मिट्टी प्राप्त कर सकते हैं।[८] उपरोक्त प्रसंगों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में मृण्मूर्ति के निर्माण हेतु आवश्यक मिट्टी को ऐसी प्राकृतिक अवस्था में ही प्राप्त करने पर बल दिया गया था जिसमें पर्याप्त लिस लिसायन पूर्व से ही समाहित हो। यद्यपि चिराँद में नवाश्म काल से प्राप्त मृदभाण्ड हेतु प्रयोग की गयी मिट्टी में अभ्रक का चूर्ण मिश्रित किया जाता था, जबकि इसी कसल से प्राप्त मातृदेवी एवं बैल की मृण्मूर्ति हेतु प्रयुक्त की गयी मिट्टी में इन पदार्थों का अभाव है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मृद्भाण्ड एवं मृण्मूर्ति निर्माण हेतु मिट्टी को गूँथने की तकनीक अलग-अलग थी।[९]

आधार मृण्मूर्ति निर्माण :

मिट्टी को तैयार करने के पश्चात् उसे अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने के लिए कुम्भकार हाथ, चाक या सांचे का प्रयोग या इन सभी तकनीकों का मिश्रित रूप से प्रयोग करता है।

हाथ द्वारा निर्माण विधि :

मध्य गंगा घाटी क्षेत्र के विभिन्न उत्खनित एवं

Vinara Bharati

अन्वेषित स्थानों से जो विभिन्न मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं उनके आधार पर हाथ से डौलिंग कर मृण्मूर्ति निर्माण प्रक्रिया को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं- (क) मृण्मूर्ति का सम्पूर्ण भाग हाथ द्वारा बना हुआ, (ख) मृण्मूर्तियों का कुछ भाग साँचे में तथा कुछ भाग हाथ द्वारा बनाकर जोड़ा गया है।

प्रथम निर्माण प्रक्रिया में कुम्भकार सनी हुई मिट्टी को हाथ में लेकर अपनी उँगलियों की सहायता से कल्पित आकृति प्रदान करता था। इस प्रकार की मृण्मूर्तियाँ प्रायः रूखे या भाव विहीन होती थी तथा ये कभी-कभी वास्तविक भी प्रतीत नहीं होती थी। ऐसी मृण्मूर्तियाँ साधारणतया चुटकी से दबायी हुई नाक, छोटे परन्तु क्षैतिज आकार में फैले हुए दोनों हाथ तथा मेहराबदार पैर मिलते हैं परन्तु इसमें एड़ी या तलुआ एवं अंगुलियों जैसे शरीरिक अंगों का अभाव रहता है।[१०] इस प्रकार की मृण्मूर्तियों का सबसे उत्तम उदाहरण राजघाट से प्राप्त तारा सादृश्य मातृदेवी की मृण्मूर्ति है जिसमें हाथ एवं पैरों की जगह चार बेलनाकार आकार होते थे, जो हाथ से डौलियाँ कर बनाया जाता था तथा शीर्ष की जगह एक गोलाकार आकार होता था। इस प्रकार की मूर्तियों का साक्ष्य हमें मध्य गंगा घाटी, चिराँद, खैराडीह, नरहन, कौशाम्बी, बक्सर, राजघाट[११], मथुरा, आहिच्छत्रा इत्यादि पुरास्थलों से प्राप्त होता है। कुछ नैगमेश मृण्मूर्तियाँ भी उँगलियों की सहायता से बनायी गयी है जिनमें पशु एवं मानव दोनों की मिली-जुली अभिव्यक्ति मिलती है।

शुंगों और कुषाणों के बाद के काल में इस तकनीक में कुछ विकास हुआ, तथा एक ऐसी नई तकनीक का आगमन हुआ जिसमें उँगलियों की सहायता से मृण्मूत्रियों को आकर देकर छिलने वाले एवं ठप्पे की सहायता से मृण्मूर्तियों का अलंकरण किया करते थे। इन औजारों का प्रयोग कुम्भकार न केवल मृण्मूर्तियों का अलंकरण किया करते थे। इन औजारों का प्रयोग कुम्भकार न केवल मृण्मूर्तियों का शृंगार करने में करते थे वरन् शरीर के कुछ निश्चित अंग जैसे नाभि, उरोज, आँख, नाक, होठ, कान आदि को बनाने में किया जाता था। शुंगकाल में कुम्भकारों का इस तकनीक के प्रति कोई आकर्षण नहीं रह गया था क्योंकि इस युग में साँचा तकनीक को ज्यादा मान्यता प्राप्त थी शायद हस्तनिर्मित मृण्मूर्ति की परम्परा एक पड़ाव पर आकार रूक गयी थी। लेकिन कुषाण काल में हाथ से डौलियाँ कर मृण्मूर्ति निर्माण की तकनीक मौर्य काल से अधिक प्रसिद्ध थी। पुनः प्रंयोग में लाई गयी। कुषाण काल में हाथ से बनी हुई मृण्मूर्तियाँ मौर्य काल की तुलना में ज्यादा अच्छी थी।

इन सभी तकनीकी पहलुओं से दक्ष होते हुए भी नरहन संस्कृति के काल चतुर्थ में कुछ अपरिष्कृत एवं पूर्णतया हाथ से बनी हुई मृण्मूर्तियाँ पायी गयी है। इस वर्ग की कुछ चपटी नैगमेष मृण्मूर्तियाँ इसका उत्तम् उदाहरण है।[१२] यद्यपि ये हाथ से बनी हुई मृण्मूर्ति है, परन्तु इन पर उंगलियों के कोई निशान नहीं मिलते हैं तथा शरीर की गोलाई उत्तम रूप से प्रदर्शित की गयी है। स्पष्ट है ये कुम्भकार मृण्मूर्तियों की स्वाभाविकता बनी रहें। इस श्रेणी की मृण्मूर्तियाँ राजघाट से भी मिलती है।

साँचा तकनीक-

मध्यगंगा घाटी की मृण्मूर्तियों की निर्माण प्रक्रिया का तीसरा वर्ग साँचे द्वारा निर्मित मृण्मूर्तियों का है। शुंगकाल में पूर्णरूप से साँचे का मूल संस्करण सर्वप्रथम शुंगकाल से ही मिलते हैं। साँचे को संचक या मातृका भी कहते हैं क्योंकि साँचों से ही बहुत से नमूने तैयार किये जाते थे। मूल मातृका या साँचा कुशल कारीगर तैयार कर देता था, तब उसमें मिट्टी को भरकर दबाने से इच्छानुसार नमूने तैयार कर लिये जाते थे।[१३] नरहन से प्राप्त शुंगकालीन मिट्टी का फलक पुरावशेष, नं ३१५, राजघाट से प्राप्त मौर्य शुंग फलक वर्ग, उपवर्ग श्रीयुक्त भंग मुद्रा में खड़ी हुई स्त्री आकृति का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए प्रो. विदुला जायसवाल ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ये दोनों फलक एक समान साँचे में बने है जो यह निर्देशित करती है कि उस काल में एक कुशल कारीगर द्वारा तैयार किये गये मातृका का साँचा नरहन एवं राजघाट जैसे दूरगामी क्षेत्रों में भी प्राप्त होते थे। स्पष्ट है इन अस्त्रों में मध्य सम्पर्क का साधन रहा होगा तभी नरहन एवं राजघाट जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में भी मूल साँचे से निर्मित मृण्मूर्ति प्राप्त होती है।

इस क्षेत्र से साँचा तकनीक से बनी मृण्मूर्तियों का गहन अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि हाथ से

Vinaya Bharati

डौलियाँ कर बने मॉडल पर, कमाई हुई मिट्टी को रखकर कसकर दबा देने से उपरोक्त मॉडल पर बने भाव समान रूप से गीली मिट्टी पर गन जाते थे। जब इन मॉडलों पर गूँथी हुई मिट्टी को चिपका देते हैं तो कमाई हुई मिट्टी कुछ समय बाद चमड़े की तरह सूख जाती थी तत्पश्चात् सावधानी पूर्वक इस पर से उतार या निकाल लिया जाता था तथा आवश्यकतानुसार छोटे औजारों का प्रयोग करके इसे परिष्कृत रूप दिया जाता था और कुछ समय (दो या तीन दिन) तक पेड़ या किसी वस्तु की छाँव में सुखाने के बाद इसे आग में पकाकर टिकाऊ बना लिया जाता था। सम्भवतः यही वह तकनीक थी जिसके द्वारा मध्यगंगा घाटी क्षेत्र में साँचा से बनी मृण्मूर्तियाँ बनाई जाती थी। पूर्णरूप से मातृका या साँचा तकनीक पर मृण्मूर्तियों के गम्भीर अन्वेषण से इस तकनीक की दो विधियाँ स्पष्ट होती है-*१. एकल साँचा द्वारा मृण्मूर्ति निर्माण, २. सांचा द्वारा मृण्मूर्ति निर्माण,* पूर्ण रूप से एक साँचे में बनी मृण्मूर्तियों को बनाने की तकनीक का आविष्कार यद्यपि मौर्य काल में हुआ परन्तु इसका वास्तविक विकास शुग काल में भी हो सका। मौर्यकाल में यह तकनीक कुछ शहरी क्षेत्रों के कुम्भकारों के पास ही उपलब्ध था। शुंगकाल के तीन मृण्फलक नरहन से प्राप्त हुए हैं। जिनमें से दो स्त्री आकृति एवं एक प्रमुख आकृति है। दोनों स्त्री फलक में स्त्री पुरुष आकृति विभिन्न आभूषणों से अलंकृत है। एवं पुरुष आकृति कण्ठहार एवं मेखला से अलंकृत है।[१४]

गुप्तकालीन कुम्भकारों ने इस साँचा तकनीक में पूर्ववर्ती कुंभकारों की अपेक्षा ज्यादा श्रेष्ठता प्रदर्शित की एवं उन भूलों की सुधार की। गुप्तकालीन कुम्भकार वास्तविक रूप में कला के मर्मज्ञ थे, इसलिए उन्होंने मृण्मूर्तियों के पृष्ठ भाग को उभार एवं समतल करने के साथ-साथ सम्भवतः बाँस की खपच्ची जैसे तेजधार युक्त औजार की सहायता से पृष्ठ भाग पर प्रयुक्त अपने अँगुलियों के निशान को भी अनिच्छित मिट्टी के साथ निकला दिया।

मृण्मूर्ति में द्विसाँचा तकनीक का प्रयोग सर्वप्रथम मौर्यकालीन कुम्भकारों ने किया था। जिसकी पुनरावृत्ति परवर्ती काल के कुम्भकार भी करते रहे। द्विसाँचा विधि से मृण्मूर्ति निर्माण की दो प्रक्रिया थी जिसमें प्रथम दो साँचों के मध्य गूँथी हुई मिट्टी पर्त रखकर दबाने पर अंदर से खोखली आकृति निर्मित हो जाती है, जिन्हें आपस में जोड़कर एक पूर्ण परन्तु खोखली मृण्मूर्ति का निर्माण कर लिया जाता है।[१५] उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में प्रयोग किये जाने वाले द्विसाँचा के भीतर में उपर्युक्त खाली स्थान रहता था जिसके कारण इनसे निर्मित आकृति गोल आकार में होती थी। शुंगकालीन कुम्भकार मृण्मूर्ति निर्माण हेतु द्वि-साँचा को नयी तकनीक खोज की गयी जिसमें दो भिन्न साँचों को मिट्टी के ठोस लौदे पर दबाकर आकृति प्राप्त की जाती थी।[१६] इस विधि से निर्मित मृण्मूर्ति का आकार चपटा होता था।

कभी-कभी मृण्मूर्तियाँ कुम्भकार के चाक पर भी बनती थी। वी.एस. अग्रवाल के अनुसार इस वर्ग की मृण्मूर्तियाँ ई. ५०० से ७५० ई. तक के समय सीमा में पायी जाती है।[१७] इस वर्ग में खोखले बेलनाकार शरीर को कुम्भकार, चाक पर बनाता था, एवं शरीर के अन्य भाग जैसे मस्तक, हाथ, पैर, आभूषण, कान, आँख इत्यादि हाथ से डौलिया कर बनाता था। इस वर्ग की दो मृण्मूर्तियाँ नरहन के कालक्रम चतुर्थ से प्राप्त हुई हैं, जिनका गर्दन के नीचे का शरी पूर्णतः खोखला बेलनाकार है जबकि गर्दन का भाग ठोस हैं, दुर्भाग्यवश ये दोनों मृण्मूर्तियाँ शीर्ष विहिन हैं, परन्तु इनकी शारीरिक संरचना से स्पष्ट है कि इनके उरोज चिपकवा तकनीक द्वारा बनाये गये हैं।[१८] इसी प्रकार के मिलते-जुलते उदाहरण अहिच्छत्रा एवं राजघाट से भी मिलते हैं।

सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति एवं अलंकरण तकनीक-

मृण्मूर्तियों को हाथ से डौलियाँ कर साँचों द्वारा या चाक पर इच्छित आकार देने के बाद कुम्भकार मानव शरीर की मौलिक रचना करने में सफल हो जाता है, परन्तु अभी भी उसे उस मौलिक रचना में होते-होते सुधार करने होते हैं, जैसे शरीर की अन्य रचनाएँ पैर, आँख, भौ, कान, हाथ पैर की अंगुलियों, आभूषण इत्यादि अलग से बनाकर चिपकवा तकनीक द्वारा जोड़ी जाती है। प्रारम्भिक मृण्मूर्तियों जैसे तारा सादृश्य मातृ-देवी की मृण्मूर्तियों में कुम्भकर अपने उँगलियों के दबाव से मानव शरीर के विभिन्न अंगों जैसे हाथ, पैर एवं सिर को चुटकी द्वारा दबाकर बनाता था।

Vijana Bharati

किसी भी मृण्मूर्ति के उपरोक्त तीनों चरणों से गुजरने के बाद अब उस मृण्मूर्ति को सुखाने का चरण आता है। इस चारण में कमाई हुई मिट्टी से पूर्णरूपेण तैयार मृण्मूर्ति को दो या तीन दिन तक छाँव में जहाँ सूर्य की रोशनी सीधी न पहुँच रही हो रखकर सूखने दिया जाता है ताकि उसमें से नयी धीरे-धीरे निकल जाये। यद्यपि इसे सूर्य की सीधी रोशनी में रखने पर एक दिन में यह सुख जायेगी परन्तु ऐसी अवस्था में इसमें दरार पड़ने की सम्भावना अधिक रहती है।

आँवे पकाने के पूर्व मृण्मूर्ति पर लेप चढ़ाना- स्लिप मिट्टी चाक या खड़िया, चूना या आक्साइड एवं जल के परिष्कृत गाढ़े रासायनिक मिश्रण से कच्ची मृण्मूर्ति की सतह को अंतिम रूप प्रदान किया जाता है। इसके दो महत्वपूर्ण कारण है- प्रथम यह कि मृण्मूर्ति के मिट्टी में उपस्थित किसी खराबी को यह रासायनिक लेप ढक लेता है एवं द्वितीय यह मृण्मूर्ति की सतह को चिकना चमकीला मनोहर बनाता है। मृण्मूर्ति की सतह पर यह गाढ़ा द्रव स्लिप) चढ़ाना आसान प्रक्रिया है- यह दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम मृण्मूर्ति को उस गाढ़े घोल में डुबो दिया जाय एवं द्वितीय किसी ब्रश की सहायता से इस गाढ़े रासायनिक मिश्रण को मृण्मूर्ति की सतह पर पोताई करना। लेप का प्रयोग साधारणतया उन्हीं मृण्मूर्तियों पर किया जाता है जिन्हें रंगना नहीं होता है, फिर भी लेप का मुख्य उद्देश्य मिट्टी के अवगुणों को उनके भीतर छिपा लेना है।

आँवे में पकाना-

उपरोक्त सभी पाँचों चरणों से गुजरने के बाद तैयार कच्चीं मृण्मूर्ति को आग में पकाकर कड़ा करते हैं ताकि उसमें टिकाऊपन आ सके। आँवे में मृण्मूर्तियों को पकाने की प्रिक्रिया क्षेत्र विशेष है तो वह अपनी मृण्मूर्तियों को नियन्त्रित तापमान पर पकायेगा, ताकि मृण्मूर्तियाँ अवगुण रहित हो।

इस प्रकार उपरोक्त चरणों की समाप्ति के पश्चात् जब मृण्मूर्ति कुम्भकार के अनुमानुसार पक जाती थी तब वह आँवा में ठण्डा होने देता था। ठण्डा होने के पश्चात् वह ऊपर से प्रयुक्त हुई ईंधन की राख हटाकर पकी हुई मृण्मूर्तियाँ निकाल लेता था। तत्पश्चात् विभिन्न रंगों द्वारा उसकी सतह को उपचारित करना कलात्मक दृष्टि से एक महत्वूर्ण चरण है। भारतीय कला में मृण्मूर्ति की सतह को रंग द्वारा अलंकरण करने की तकनीक लगभग ई.पू. २५०० सैन्धव सभ्यता तक पुरातन है। सैन्धव सभ्यता के निवासी अपनी मृण्मूर्तियों को अलंकृत करने हेतु न सिर्फ आभूषण का प्रयोग करते थे बल्कि उसकी सतह को विभिन्न रंगों से उपजाति करते थे। रंगों का प्रयोग करने से मृण्मूर्ति की सतह न सिर्फ चिकनी एवं आकर्षक हो जाती है बल्कि उनके टिकाऊपन में भी वृद्धि हो ताजी है।

सन्दर्भ :

१. मिश्र, इन्दुमति, प्रतिमा विज्ञान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९८७. पृ. ५०

२. काञ्चनी मम पत्नी च दीक्षाय सांश्च कर्माणि। बाल्मिकी रामायण उत्तर काण्ड ९१/५/२५

३. वृहत् संहिता ६०/५१/५८

४. हरि भक्ति विलास विला १८

५. समरांगण सूचाकर ७३/३/३२

६. शिल्परत्न १/४४/५४

७. शिवमहापुराण, अध्याय १६, पृ. ४९

८. सिन्हा, विरेनद्र कुमार आर्कियोलाजी ऑफ विहार, रामानन्द विद्याभवन, नई दिल्ली, १९९९, पृ. १४६

९. गुप्ता, परमेश्वरी लाल, गंगेटिक वैली टेराकोटा आर्ट, वाराणसी, १९७२ पृ. ८

१०. नारायण, ए.के. एण्ड अग्रवाल, पी.के. एक्स कांवेशन्स एट राजघाट, बी.एच.यू. खण्ड ६, वाराणसी, १९७८, पृ. ८२

११. सिंह, पुरुषोत्तम, एक्स कान्वेशन्स एट नरहन, १-१९८४-८९, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९४, पृ. १४१

१२. अग्रवाल, वासुदेवशरण, भारतीय कला पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी, १९७२, पृ. ९

१३. सिंह, पुरुषोत्तम, एक्सकांवेशन्स एट नरहन, १९८४-८९ का.हि.वि. वाराणसी, १९९४, पृ. १४४

१४. श्रीवास्तव, एस.के. दवि गोल्डेन जुबली, जिल्द, पृ. ३७९

१५. मार्शल, जे. आर्कियोजालिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एनवल रिपोर्ट

१६. अग्रवाल पुरुषोत्तम, एक्सकेवेशन्स एट नरहन, १९८४-८९, का.हि.वि.वि., वाराणसी १९९४, पृ. १४४

१७. जायसवाल विदुला, एन एथनो आर्कियोलाजिकल व्यू ऑफ इण्डियन टेराकोटाज, आगम कला प्राकाशन, दिल्ली, १९८६

Vijnana Bharati